स्कूलों में आकलन पर पुनर्चिंतन*

दिशा नवानी**

प्रस्तुत लेख आकलन के दो तरीकों यथा सतत एवं समग्र मूल्यांकन तथा साल के अंत में ली जाने वाली परीक्षा की प्रकृति की पड़ताल करता है। लेख यह भी बताता है कि दोनों में क्या सैद्धांतिक अंतर है। साथ ही ऐसे आकलन की सिफ़ारिश करता है जो बहुतायत में भारतीय बच्चों की आवश्यकताओं, विभिन्न संदर्भों तथा सीखने के तरीकों के लिए अधिक उपयुक्त हो।

चूँकि 'आकलन में सुधार' ने भारतीय शिक्षा प्रणाली में केंद्रीय स्थान हासिल कर लिया है, इसलिए साल के अंत में ली जाने वाली पारंपरिक सालाना परीक्षाओं की शिक्षणशास्त्रीय असरकारिकता (जिसका सबसे अतिरंजित व मशहूर उदाहरण बोर्ड की परीक्षाएँ होती हैं) और सुधारात्मक, गैर-तनावपूर्ण एवं समग्र विद्यालय-आधारित अध्यापक निर्देशित आकलन ('सतत एवं समग्र मूल्यांकन' या सी.सी.ई. के परचम तले इकट्ठा किए गए) के बीच बहस में उठाए गए कुछ प्रमुख सरोकारों को समझना ज़रूरी हो जाता है। हालाँकि, सैद्धांतिक तौर पर आकलन के दोनों प्रकार इस तरह से पेश किए जाते हैं कि दोनों एक-दूसरे से एकदम अलग-अलग हों, लेकिन अभ्यास करते वक्त व्यवहार में इन दोनों की बुनावट, प्रकृति, उद्देश्य के मामले में साफ़-साफ़ अलगाना पूरी तरह से मुमकिन नहीं हो पाता। लेकिन, यह समझना भी बेहद ज़रूरी है कि दोनों की अवधारणात्मक समझ में बुनियादी फ़र्क है और इन्हें लागू करने से जुड़े मुद्दों का घालमेल इनकी अंतर्निहित बुनावट और उद्देश्य के साथ नहीं किया जाना चाहिए। इसलिए, यह आलेख आकलन के इन दो प्रकारों की प्रकृति की जाँच की कोशिश करता है, उनके पीछे छुपे सिद्धांतों में मौजूद विविधताओं का अध्ययन करता है, उन मान्यताओं की भी जाँच करता है जिन पर ये सिद्धांत आधारित हैं (ऊपर जिन्हें टेढ़े यानी इटेलिक अक्षरों में दिया गया है) और आकलन के लिए एक मामला पेश करता है जो शायद भारतीय बच्चों के बहुलांश की शैक्षिक स्तरों, ज़रूरतों और अलग-अलग संदर्भों में ज़्यादा सटीक बैठता हो।

---

* शिक्षा विमर्श, मई-जून, 2015 (पृष्ठ 25–35 से साभार प्रकाशित)

** *एसोसिएट प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष*, स्कूल ऑफ़ एजुकेशन, टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ़ सोशल साइंसेज़, मुंबई

आकलन की आम समझ

आकलन किसी भी शिक्षा प्रणाली का एक अटूट अंग होता है। यह पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम और उसके शिक्षणशास्त्रीय संचालन जितनी ही ज़रूरी एक प्रणाली है जो यह मापने की कोशिश करती है कि 'जो इरादे थे' जैसे शैक्षिक लक्ष्य, वे किस हद तक हासिल किए गए या नहीं और जिस तरह से 'सोचा और संचालित किया गया', जैसे— पाठ्यक्रम, सीखने-सिखाने के संसाधन तथा शिक्षणशास्त्रीय अनुभव, उस तरीके से हासिल किए गए थे या नहीं और क्या उन लक्ष्यों को हासिल करने में असरदार थे (टाइलर, 1949)। आकलन से हासिल किए गए सबूतों की रोशनी में यह मुमकिन है कि या तो उन 'सीखने या शैक्षिक' उद्देश्यों पर दोबारा विचार किया जाए या शिक्षणशास्त्रीय अनुभवों को दोबारा रचा जाए। हालाँकि, व्यवहार में शैक्षिक उद्देश्य एक बार तय कर लिए जाने के बाद कम-से-कम एक अकादमिक साल के पाठ्यक्रम के दौरान तो बमुश्किल ही सुधारे या बदले जाते हैं। शिक्षणशास्त्रीय तकनीकें भी नहीं बदली जाती हैं। इस तरह की कोशिशों को बहुधा उन उद्देश्यों तथा तौर-तरीकों की पवित्रता पर सवालिया निशान लगाना माना जाता है और उसके कारण तैयारी में कमी या शिक्षार्थियों में सीखने के प्रति अनिच्छा में तलाशे जाते हैं। शिक्षार्थियों, खास तौर पर सामाजिक रूप से वंचित पृष्ठभूमि से आने वाले, के सांस्कृतिक संदर्भों तथा उनके माता-पिता की पृष्ठभूमि को आमतौर पर उनकी नाकामयाबी के लिए ज़िम्मेदार ठहराया जाता है। सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक हालातों की वजह से बच्चों के अनुभव व उनके आस-पास सीखने का माहौल अलग-अलग होता है, इसके बावजूद ज़्यादातर विद्यालय प्रणालियाँ उनके साथ एक-सा बरताव करती हैं। सवालों की प्रकृति, चाहे गए जवाब और जिन हालातों में आकलन किया जाता है, वह भी सभी शिक्षार्थियों के लिए एक समान रखा जाता है। एक बार आकलन कर लिए जाने व फ़ैसला सुना दिए जाने के बाद प्रदर्शन का ज़िम्मा पूरी तरह से शिक्षार्थी के सिर पर आ जाता है। आकलन की शैली, प्रकृति और यहाँ तक कि उसके किए जाने के समय पर कदाचित् ही सवाल उठाया जाता है, क्योंकि इसका मतलब शिक्षार्थियों से जुड़ी किसी भी चीज़ (सीखने की शैलियाँ, सीखने के तौर-तरीके, सामाजिक-सांस्कृतिक व आर्थिक पृष्ठभूमि या यहाँ तक कि आकलन के समय शिक्षार्थी की मानसिक व शारीरिक हालत) का विरोध करना माना जाता है, जो कि सिर्फ़ एक 'विषय' है जिसकी जाँच की जानी है।

औपनिवेशिक अतीत की परछाई

एकरूपता, वस्तुनिष्ठता, विश्वसनीयता और इन सबसे अहम, आकलन के तरीकों के निर्वैयक्तिक स्वभाव का जश्न मनाती भारत में मौजूद स्कूली परीक्षा प्रणाली की जड़ें हमारे औपनिवेशिक अतीत में हैं। भारत में औपनिवेशिक प्रणाली ने देशज पाठ्यचर्या, लचीले शिक्षणशास्त्र और शिक्षार्थियों के अध्यापक निर्देशित आकलन की जगह एक अजनबी (पश्चिमी संस्कृति तथा अंग्रेज़ी भाषा) पाठ्यक्रम, समय-सीमा में पाठ्यक्रम को पूरा करने तथा एक बाहरी, निर्वैयक्तिक परीक्षा प्रणाली को लागू किया गया (कुमार, 2005)। हालाँकि, आकलन की ऐसी

नौकरीशाहीनुमा केंद्रीय प्रणाली की आधिकारिक वजह पदोन्नति, छात्रवृत्ति और रोज़गार के एक समान मानदंडों को विकसित करना था (कुमार द्वारा उद्धृत शुक्ला, 1978), लेकिन इसने इससे भी बड़े सामाजिक मकसद को हासिल करने का काम किया, जैसे — औपनिवेशिक शासन की सार्वजनिक छवि को न्यायप्रिय व निष्पक्ष तौर पर पेश करने का काम। सीखने वाले की एजेंसी को बहुत ही थोड़ी वैधता दी गई, क्योंकि सिखाने व आकलन का काम तयशुदा पाठ्यपुस्तक में दी गई विषय-वस्तु की याददाश्त का किया जाता था, जिनका बच्चे की दुनिया से दूर-दूर तक किसी किस्म का कोई ताल्लुक नहीं होता था (कुमार, 2005)। 'वैयक्तिक आत्मनिष्ठ आकलन' की जगह पर 'निर्वैयक्तिक-वस्तुनिष्ठ' आकलन की प्रणाली भारत में आज़ादी के बाद भी बदस्तूर जारी रही। औपचारिक तथा वस्तुनिष्ठ किस्म का आकलन सीखने वालों के बीच पाए जाने वाले वैयक्तिक फ़र्कों को बहुत ही कम रियायत देता है, हरेक से एक समान उम्मीदें रखता है और कामयाब को इनाम व नाकाम रहने वालों को सज़ा देने को शिक्षार्थियों के सीखने का आकलन करने का, दूसरे कम औपचारिक तथा आत्मनिष्ठ किस्म के तरीकों की तुलना में, सबसे वैध तरीका समझता है। आकलन का यह ढाँचा व उससे मिलने वाले नतीजे, एक अनूठी किस्म की पवित्रता हासिल कर लेते हैं, जो अध्यापक और शिक्षार्थी, दोनों की पहचान मिटाकर, 'बरताव की एक समानता' और 'आकलन किए जा रहे शिक्षार्थी से परीक्षक की दूरी' को सीखने के कामयाबी पूर्ण आकलन के केंद्र में खड़ा कर देती है।

शुरू किए गए सुधार

पिछला दशक भारत की स्कूली शिक्षा में कुछ प्रमुख बदलावों का गवाह रहा है, जिनमें से सबसे अहम 2009 में बच्चों के लिए नि:शुल्क व अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम (आर.टी.ई.) का बनना है, जिसमें प्रारंभिक शिक्षा को बुनियादी अधिकार का दर्जा दिया गया है। इससे पहले, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या का पुनर्गठन किया गया था, एक पाठ्यचर्यात्मक ढाँचा जिसमें बच्चों के स्थानीय ज्ञान को वैधानिकता प्रदान की गई, बच्चों की दुनिया और विद्यालय की दुनिया के बीच संबंधों को स्थापित करने की अहमियत को रेखांकित किया गया और ज्ञान को गढ़ने में सीखने वाले की प्रमुख भूमिका को दोहराया गया। कुछ राज्यों ने इसके बरक्स अपने-अपने राज्य के लिए पाठ्यचर्या बनाई। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् और राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, दोनों ने ही नए पाठ्यचर्यात्मक ढाँचे की रोशनी में नयी पाठ्यपुस्तकें बनाईं या पुरानी को सुधारा। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा— 2005, जिसकी जड़ें 'शिक्षा बिना बोझ के' (1993) में भी मौजूद हैं, नब्ज़ को सही पकड़ते हुए कहती हैं कि शिक्षार्थियों पर बोझ बिना समझे सीखने का है, जहाँ पर शिक्षित करने की तो पुरज़ोर कोशिश की जाती है, लेकिन बहुत ही थोड़ा सीखा व समझा जाता है। पाठ्यचर्या ने यह भी पाया कि ऐसी प्रणाली में, 'बच्चा कक्षा में बताई गई या पाठ्यपुस्तक में दी गई किसी भी चीज़ को बगैर समझे किसी भी परीक्षा तक को पास कर सकता है।'

इसलिए कुछ दूसरे पाठ्यचर्यात्मक, शिक्षणशास्त्रीय, ढाँचागत और अध्यापक संबंधित मानदंडों के अलावा, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा— 2005 और आर.टी.ई. 2009, दोनों ने ही आकलन प्रणाली में सार्थक बदलावों की पेशकश की। खासतौर पर आकलन के संदर्भ में आर.टी.ई. —2009 में कहा गया है कि, विद्यालय में दाखिल किया गया कोई भी बच्चा किसी भी कक्षा में रोका नहीं जाएगा और न ही विद्यालय से बाहर किया जाएगा, जब तक कि वह अपनी प्रारंभिक शिक्षा पूरी नहीं कर लेता।

बच्चे के ज्ञान की समझ और उसे इस्तेमाल करने की काबिलियत का सतत एवं समग्र मूल्यांकन किया जाएगा।

ये मानदंड बच्चों को फ़ेल करने व उसी कक्षा में रोके रखने और अकादमिक सत्र के अंत में परीक्षा लेने की पारंपरिक नीति के खिलाफ़ और इस वक्त देश में खदबदा रहे आकलन संबंधी विवाद के केंद्र में हैं। अगले हिस्सों में इन प्रावधानों को इनके इस्तेमाल से जुड़ी चुनौतियों के साथ विस्तार से रखा गया है।

किसी को न रोकने का प्रावधान

किसी को न रोकने का प्रावधान (नो डिटेंशन प्रोविज़न) कोई नया नहीं है। यह 28 राज्यों में पहले से ही अलग-अलग स्तरों (कक्षा 1 से 2, 1 से 4, 1 से 7) पर आर.टी.ई. कानून के लागू होने से भी पहले से ही मौजूद है। कुछ राज्यों में इसके साथ कुछ शर्तें, जैसे— न्यूनतम हाज़िरी आदि लगी हुई हैं। इस प्रावधान को रखने का तर्क यह है कि विद्यालय में सीखने-सिखाने व आकलन के लिए भयमुक्त माहौल रखने से, खासतौर पर सामाजिक-आर्थिक व सांस्कृतिक तौर पर वंचित बच्चों की ज़रूरतों के प्रति जवाबदेह हुआ जा सकता है, जो न सिर्फ़ विद्यालय आने के लिए ही जूझते रहते हैं, बल्कि उन्हें विद्यालय में लगातार टिके रहने के लिए उससे भी ज़्यादा मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। फ़ेल होने और उसी कक्षा में रुके रहने से उस बच्चे को अपमान का सामना करना पड़ता है, वह हतोत्साहित हो जाता है और अकसर विद्यालय तंत्र से बाहर निकाल दिया जाता है। प्रारंभिक शिक्षा का सार्वजनीकरण करने और विद्यालय से बाहर निकालने की दर को न्यूनतम करने की कोशिश में इस प्रावधान को आर.टी.ई. में अनिवार्य बनाया गया है। आर.टी.ई. में इस नीति के तहत आगे बढ़ाए गए शिक्षार्थियों की समझ के मामले में पिछड़ जाने को संबोधित करने की अहमियत और उन बच्चों को कक्षाई समय के अलावा अतिरिक्त मदद मुहैया करवाने की ज़रूरत को भी पहचाना गया है। हालाँकि, यह कल्पना करना मुश्किल नहीं है कि पहले से ही काम के बोझ से लदे अध्यापकों के लिए, ऐसे बच्चों के लिए, जिनको घरों पर बहुत थोड़ी या बिलकुल भी मदद नहीं मिल पाती है, अपनी इस अतिरिक्त भूमिका को निभाने के लिए अतिरिक्त समय निकाल पाना कितना मुश्किल है। कई राज्यों में अभिभावकों ने इस नीति के प्रति अपनी नाखुशी ज़ाहिर की है। उनके मुताबिक, इसका कोई फ़ायदा नहीं है, क्योंकि यह बच्चों के सीखने में रही कमज़ोरी को छिपा देती है और उन्हें बगैर किसी शर्त के आगे बढ़ा देती है, जबकि वे ऊँचे दर्जे के लिए न तो लायक होते हैं और न ही तैयार होते हैं। हालाँकि अभिभावकों की इस पीड़ा के छुपे सरोकारों को

नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता, लेकिन बच्चों के न सीख पाने की एकमात्र ज़िम्मेदारी इस प्रावधान के सिर नहीं मढ़ी जा सकती। यह समझना ज़रूरी है कि परीक्षाएँ शायद सीखे हुए की जाँच तो कर सकती हैं लेकिन वे सीखने को सुनिश्चित नहीं करतीं। सीखने के लिए आकलन के वैध मानदंडों के अलावा यह बेहद ज़रूरी है कि विद्यालय ठीक तरीके से चलें, उनमें सीखने का पोषण करने वाला शिक्षणशास्त्रीय माहौल हो, पर्याप्त ढाँचागत सुविधाएँ हों, सार्थक व संदर्भयुक्त सीखने-सिखाने की सामग्री हो और सबसे ज़रूरी यह भी है कि उनमें काबिल, उचित योग्यता प्राप्त तथा ज़िम्मेदार अध्यापक हों।

सत्रांत यानी सालाना परीक्षाएँ

सालाना परीक्षाएँ आकलन को एक बहुत बड़ी घटना की तरह पेश करती हैं, जिसे साल के आखिर में या फिर रणनीतिक तौर पर अकादमिक साल की तिमाही या छमाही के आखिर में संचालित किया जाता है। इसका मकसद इस बात का मूल्यांकन करना होता है कि साल के उस हिस्से के दौरान विद्यार्थियों ने सिखाई गई चीज़ों को किस हद तक सीखा है। इन परीक्षाओं में किया गया प्रदर्शन और वह भी एक तयशुदा समय-सीमा में काफ़ी अहम होता है और फिर कुछ इनामात (पुरस्कार, छात्रवृत्ति, अगली कक्षा में चढ़ाना, किसी पाठ्यक्रम में दाखिला और कुछ विद्यालयों में यहाँ तक कि अलग से गणवेश या कामयाब बच्चों को नाकारा बच्चों से अलग दिखाने के लिए कुछ निशानियाँ दी जाती हैं) और दंडात्मक मानदंड (उसी कक्षा में रोक देना, विद्यालय से निकाल देना आदि) भी वैयक्तिक प्रदर्शनों के साथ जुड़े रहते हैं। ऐसी प्रणाली में प्रश्न पत्रों को बनाने में गोपनीयता, प्रश्नों की वस्तुनिष्ठता तथा परीक्षाओं को संचालित करने में निर्वैयक्तिकता और मूल्यांकन के नतीजे बेहद ही महत्वपूर्ण हो जाते हैं। ऐसी प्रणाली के पीछे कुछ इस तरह की मान्यताएँ छुपी रहती हैं कि मूल्यांकन सीखने को सुनिश्चित करते हैं, शिक्षार्थियों के मन में एक खास किस्म की गंभीरता पैदा कर देते हैं, अध्यापकों को जवाबदेह व उसके नतीजे में ज़्यादा ज़िम्मेदार बना देते हैं। इस तरह से मूल्यांकन शिक्षार्थियों की काबिलियत व उनकी कोशिशों का निष्पक्ष मानदंड होते हैं व इनाम देने या न देने की एक न्यायपूर्ण कसौटी होते हैं।

ऐसे आकलन का केंद्रीय सिद्धांत यह होता है कि सीखने का एक निश्चित मतलब होता है, जिसे ठोस या मूर्त तरीके से दिखलाया या प्रदर्शित किया जा सकता है। अगर शिक्षार्थी ने साल के दौरान उसे सीख लिया है, जो कि उसे सीख लेना चाहिए था, तो उसे चाहे गए तरीके से उसे प्रदर्शित करने लायक होना चाहिए और ऐसे आकलन में किए गए अच्छे प्रदर्शन को काफ़ी अच्छे तरीके से इनाम दिया जाना चाहिए या इससे उलट, खराब प्रदर्शन पर सज़ा दी जानी चाहिए। इस किस्म की लिखित परीक्षा प्रणाली भारत सरकार की कई रिपोर्टों (1966, 1986, 1991, 1992, 1993) में गहरी आलोचना का विषय रही है। इस किस्म के आकलन के साथ जुड़ी खास किस्म की समस्याएँ इस तरह से हैं कि ये शिक्षार्थियों के लिए बहुत ज़्यादा तनाव पैदा करती हैं; ज़्यादातर उनकी रटकर याद करने की काबिलियत की जाँच करती हैं, लेकिन ऊँचे दर्जे के कौशलों को जाँचने में नाकाम रहती हैं; कड़क व कठोर होती हैं; क्योंकि वे 'सभी के पाँव में एक ही

नाप का जूता पहनाने' के सिद्धांत पर आधारित होती हैं; अलग-अलग तरह के शिक्षार्थियों व सीखने के माहौल के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ती हैं; और सामाजिक न्याय की ज़रूरतों को पूरा नहीं करतीं (मानव संसाधन विकास मंत्रालय, 2006)। चूँकि सालाना परीक्षाएँ अकसर एक अकेली ऐसी बड़ी घटना होती हैं जो शिक्षार्थी की ज़िंदगी व जीविका पर असर डाल सकती हैं, इस वजह से वह शिक्षार्थी के जीवन में ज़रूरत से काफ़ी ज़्यादा अहमियत हासिल कर लेती हैं, नतीजतन उसमें गलती करने वालों के लिए दया या करुणा नहीं दर्शाई जाती है। यहाँ तक कि हल्का-सा ज़ुकाम या बुखार किसी शिक्षार्थी के प्रदर्शन पर पानी फेर सकता है और परीक्षाओं की ऐसी बेरहमी और भयावहता शिक्षार्थियों पर असहनीय तनाव का बोझ डाल देती है। हालाँकि, भारत में विद्यालय बहुतायत में भेदभावपूर्ण तथा विभिन्नता वाले ढाँचों में पाए जाते हैं और यहाँ के बहुत-से बच्चे सीखने के कम से भी कमतर संसाधनों वाले माहौल में सीखते हैं, वहाँ पर परीक्षा प्रणाली सभी के साथ एक समान बरताव करती है और सबसे एक समान उम्मीदें भी रखती है। ऐसी परीक्षाओं की निष्पक्षता हकीकत में अन्याय व छल-कपट का सबसे बड़ा स्रोत है। इन हालातों में शिक्षार्थी की कामयाबी व नाकामी अकसर वैयक्तिक हो जाती है। चुनौतीपूर्ण हालातों में पढ़ने-लिखने वाले गरीब बच्चों की कामयाबी की खबरों को अकसर जमकर उछालना दूसरे वंचित बच्चों को कुछ इस तरह का संदेश देता है, "अगर वे अच्छा कर सकते हैं तो तुम या दूसरे क्यों नहीं कर सकते?" इसमें बड़ी ही आसानी से दोष का टोकरा शिक्षा प्रणाली के सिर से हटाकर वैयक्तिक शिक्षार्थी के सिर पर धर दिया जाता है।

ये सभी समस्याएँ बोर्ड परीक्षाओं के मामले में कई गुना बढ़ जाती हैं। इसकी वजह यह है कि उसके साथ बड़े दाँव लगे रहते हैं, पाठ्यक्रम का काफ़ी सारा हिस्सा पूरा करना होता है, सभी विषयों को एक ही साथ पढ़ना होता है, दिए जाने वाली श्रेणियों व अंकों में पारदर्शिता का अभाव रहता है व हर चीज़ छुपाई जाती है। परीक्षा में किए जाने वाले सुधारों पर राष्ट्रीय फ़ोकस समूह का आधार पत्र (2006) कुछ सार्थक सिफ़ारिशें करता है। उनमें से कुछ इस तरह से हैं — आकलन के अलग-अगल तरीकों की शुरुआत करना, जिसमें मौखिक परीक्षण तथा समूह में मूल्यांकन, अलग-अलग स्तरों पर अध्ययन कर रहे शिक्षार्थियों के लिए अलग-अलग विषयों में परीक्षण के अलग-अलग तरीकों का इस्तेमाल करना, तंत्र की सुविधा के बजाय परीक्षार्थी द्वारा माँगे जाने पर परीक्षाएँ लेना, शिक्षार्थी के खुद के तुलनात्मक प्रदर्शन को दर्ज करना आदि। हालाँकि, उनमें से ज़्यादातर अभी भी कागज़ों से बाहर नहीं आ पाई हैं, लेकिन केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने 2011 में कक्षा 10 की बोर्ड परीक्षाओं को उन शिक्षार्थियों के लिए ऐच्छिक कर दिया है जो अपनी पढ़ाई उसी विद्यालय में जारी रखना चाहते हैं। इसकी कुछ ने प्रगतिशील मानदंड के तौर पर तारीफ़ की है, लेकिन कुछ हिस्सों से इसके प्रति संदेह भी दर्शाया गया है।

विद्यालय-आधारित सतत एवं समग्र मूल्यांकन

नि:शुल्क व अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार अधिनियम— 2009 में जिस सतत एवं समग्र

मूल्यांकन (सी.सी.ई.) के विचार का ज़िक्र किया गया है, वह कोई नया विचार नहीं है, बल्कि इस कानून में औपचारिक शक्ल अख्तियार करने से पहले इसका ज़िक्र कई आयोगों की रिपोर्टों और नीतियों में किया जा चुका है। 'सतत यानी लगातार' को एकमात्र परीक्षा की बुराई से बचने का तरीका माना जाता है, जिस पर बच्चे के भविष्य का दारोमदार टिका रहता है और 'समग्रता या व्यापकता' को शिक्षार्थी के समग्र व्यक्तित्व के विकास और उसके आकलन को वैधानिकता देने का ज़रिया माना जाता है। इसके पीछे विचार यह है कि इस बात में दोबारा भरोसा कायम किया जाए कि आकलन के अलग-अलग तरीकों का इस्तेमाल करके अपने शिक्षार्थियों का नियमित तौर पर आकलन अध्यापक के माध्यम से किया जा सकता है और शिक्षार्थियों को सही वक्त पर ज़रूरी मदद करने के आकलन के मकसद को हासिल किया जा सकता है।

सतत एवं समग्र मूल्यांकन को सालाना परीक्षाओं की पारंपरिक प्रणाली से जुड़े तमाम मर्ज़ों की रामबाण दवा के तौर पर पेश किया जाता रहा है। यह मानता है कि अध्यापक सभी शिक्षार्थियों को अच्छी तरह से जानता है; उनकी तरक्की पर निगाहें गड़ाए रखता है; उनके द्वारा झेली गई सीखने की सभी चुनौतियों को जानता है और खुद उन्हें मदद करने के काबिल (प्रशिक्षण हासिल करने के बाद) है। इसमें यह भी माना जाता है कि भयमुक्त 'सीखने-सिखाने के आकलन' के माहौल में शिक्षार्थी परीक्षा के बाहरी दबावों के बजाय अंदरूनी प्रेरणा से कहीं ज़्यादा प्रेरित होते हैं।

इस किस्म के आकलन का केंद्रीय सिद्धांत यह है कि आकलन सीखने से अलग-थलग न होकर सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के साथ ही गुंथा हुआ होता है और सीखने के नतीजे की सिर्फ़ 'जाँच' करके बच्चे को इनाम या सज़ा देने के बजाय, उनका इस्तेमाल उनके सीखने को बेहतर करने में किया जाना चाहिए। यह बात भी ज़रूर दर्ज की जानी चाहिए कि सी.सी.ई. एक व्यापक शब्द है, जिसकी कुछ खासियतें ऊपर दी गई हैं। हमारे देश में सी.सी.ई. का कोई एक समान मॉडल नहीं है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड और अलग-अलग राज्यों में से कुछ ने गैर-सरकारी संस्थानों की मदद से और कुछ ने निजी संस्थानों व व्यक्तियों की मदद से सी.सी.ई. के अपने-अपने मॉडल विकसित किए हैं। अलग-अलग अवधारणात्मक समझ (नवानी, 2013) से जूझने के साथ-साथ, सी.सी.ई. अमल करने के स्तर पर भी एकाधिक चुनौतियों का सामना कर रहा है। हालाँकि अध्यापकों को ज़्यादातर राज्यों में कुछ बुनियादी प्रशिक्षण दिए गए हैं, लेकिन अभी भी इस मामले में काफ़ी धुंधलका छाया हुआ है कि बच्चों की किस चीज़ का और कैसे आकलन किया जाना है और इससे मिलने वाले नतीजों को उनकी भावी बेहतरी में कैसे काम में लिया जाना है। अध्यापक को समर्थ बनाने से ठीक उलट, ज़्यादातर मामलों में सी.सी.ई. को ऊपर से एक और बला के तौर पर लादा जा रहा है और उन्हें एक के बाद एक प्रशिक्षण की कड़ियों में भाग लेना पड़ रहा है। अध्यापकों की सी.सी.ई. से यह भी शिकायत है कि इसमें रजिस्टर बनाने, आकलन के प्रारूप भरने, बच्चों की तरक्की पर निगाहें रखने, सबूत इकट्ठे करने और विस्तृत वर्णनात्मक पोर्टफ़ोलियो भरने आदि कामों ने उनकी मुसीबतों को और बढ़ा दिया है। कुछ

मामलों में तो सी.सी.ई. परियोजना निर्माण की ऐसी तिकड़मों में तब्दील हो गया है, जिसमें अभिभावक या तो बाज़ार में पहले से बनी बनाई परियोजनाएँ खरीदने को मजबूर होते हैं या बच्चे अपना वक्त ऊल-जलूल परियोजनाओं में बरबाद करते हैं। कुछ अध्यापक शिकायत करते हैं कि सी.सी.ई. को लागू करने का नतीजा यह हुआ कि अब उनका ध्यान अध्यापन से हटकर आकलन से जुड़े रिकॉर्ड बनाने पर केंद्रित हो गया है। उनमें कुछ इस बात की तरफ़ भी इशारा करते हैं कि वे साल के दौरान शिक्षार्थियों की तरक्की को बढ़ाकर दिखाने का दबाव महसूस करते हैं ताकि उनके खुद के प्रदर्शन के मूल्यांकन पर बुरा असर न पड़े, जबकि कुछ निजी कुलीन वर्ग के विद्यालयों के शिक्षार्थी शिकायत करते हैं कि उनके अध्यापकों के हाथों में अचानक बहुत ताकत आ गई है, सरकारी विद्यालयों के अध्यापक शिकायत करते हैं कि उनके बच्चे लापरवाह और सीखने के प्रति छुईमुई-सा रवैया रखने वाले हो गए हैं।

शिक्षा का अधिकार कानून के प्रावधानों का परीक्षण

शिक्षा का अधिकार कानून के तहत शुरू किए गए आकलन से जुड़े सुधारों पर कुछ राज्यों द्वारा असंतोष ज़ाहिर करने पर और विद्यालयों के सामने पेश आने वाली चुनौतियों की वजह से मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने 2012 में एक केंद्रीय सलाहकार शिक्षा बोर्ड (CABE) की एक उप-समिति गठित की, जिसका काम "आर.टी.ई.— 2009 के प्रावधान किसी को न रोकने के संदर्भ में आकलन और सी.सी.ई. को लागू करना'' की जाँच करना था। इसकी अध्यक्षता गीता बुख्खल द्वारा की गई जो कि हरियाणा की भूतपूर्व शिक्षा मंत्री थी। समिति ने किसी को न रोकने और शिक्षार्थियों को उनके सीखने से रोकने से जुड़े नतीजों से संबंधित साहित्य की जाँच-परख करने के अलावा अहम दावेदारों से सीधे-सीधे जानकारी इकट्ठी की। उसने कुछ राज्यों में प्रश्नावलियाँ भेजीं, जिसमें अभिभावकों तथा प्रशासनिक कर्मचारियों के लिए सवाल भी शामिल किए गए थे। तेरह राज्यों ने प्रश्नावलियाँ भरकर भेजीं, जबकि 12 दूसरे राज्यों ने अपने अनुभवों व इन प्रावधानों से जुड़े अपने सरोकारों को साझा करते हुए अलग से रिपोर्ट जमा की। इसके साथ ही समिति ने कुछ राज्यों में विद्यालयों का दौरा किया और अध्यापकों, शिक्षार्थियों, अभिभावकों तथा समुदाय के सदस्यों के साथ बैठकें कीं।

इस समिति को अध्ययन किए जा रहे प्रावधानों के बारे में विश्लेषण के आधार पर दो केंद्रीय मुद्दों पर राय देनी थी। पहला, सरकारी विद्यालयों के बच्चों के शैक्षिक स्तरों के नतीजों का गिरता स्तर और दूसरा एनुअल स्टेटस ऑफ़ एजुकेशन रिपोर्ट–2014 (ASER) की रिपोर्ट के मुताबिक सरकारी विद्यालयों से निजी विद्यालयों की तरफ़ बच्चों का पलायन। असर रिपोर्ट ने साफ़ तौर पर इस बात की तरफ़ उँगली उठाई कि सरकारी विद्यालयों में किसी को न रोकने की नीति बच्चों की शिक्षा में सार्थक मदद करने के मामले में हतोत्साहित करने वाली साबित हो रही है। ऐसा इससे जुड़ी गलतफ़हमी की वजह से है जिसमें किसी को न रोकने की नीति का मतलब ही यह निकाला जाता है कि आकलन करना ही नहीं है। यह इस बात की तरफ़ भी इशारा करती है कि सी.सी.ई. को गलत समझा

जा रहा है— या तो कोई परीक्षा नहीं होगी और सभी बच्चों को कक्षा 7 तक आगे बढ़ा दिया जाएगा या फिर बच्चे के ज्ञान को थोड़े-थोड़े समयान्तराल पर जाँचने के लिए लगातार परीक्षाएँ ली जाएँगी। इसमें से पहले हालात शिक्षार्थियों व अध्यापकों, दोनों में ही लापरवाह रवैया विकसित करने की तरफ़, तो दूसरे हालात उन दोनों में ज़्यादा तनाव व दुश्चिंता पैदा करने की तरफ़ ले जाते हैं। समिति इस बात का दावा करती है कि सरकारी विद्यालयों के ज़्यादातर अध्यापकों, अभिभावकों और प्रशासकों की आम समझ यह है कि ये दोनों प्रावधान मिलकर विद्यालयों में बच्चों के असली सीखने को तबाह कर रहे हैं। चूँकि सालाना परीक्षा प्रणाली अभिभावकों को भी अच्छी तरह से समझ में आती थी, जिसमें नतीजों की घोषणा बच्चों की अगले स्तर पर तरक्की का प्रमाणीकरण किया जाता था, जबकि आकलन की नयी योजना और बच्चों को बिना शर्त अगले स्तर पर बढ़ा देने में एक तरह की अस्पष्टता नज़र आती है और इसमें न तो बच्चों पर सीखने की ज़िम्मेदारी डाली जाती है और न ही अध्यापक इस बात को पक्का करते हैं कि बच्चे सीखें।

समिति द्वारा पहचाने गए बच्चों के शैक्षिक स्तरों के गिरने के बुनियादी कारण कुछ इस तरह से पहचाने गए हैं—

1. **किसी को न रोकने का मतलब किसी तरह का आकलन नहीं करना है** — "ज़्यादातर विद्यालयों ने किसी को न रोकने की नीति का यह गलत मतलब लगाया है कि 'किसी तरह का आकलन नहीं करना है' या 'आकलन की कोई ज़रूरत नहीं है।' चूँकि बच्चे द्वारा परीक्षा में किए गए कैसे भी प्रदर्शन के बावजूद अगली कक्षा में चढ़ा दिया जाता है, इससे आकलन की अहमियत बच्चों, अभिभावकों व अध्यापकों की निगाहों में खत्म हो रही है, क्योंकि वे यह मानते हैं कि 'जिसको आप माप नहीं सकते, उसे बेहतर नहीं कर सकते।"
2. **किसी को न रोकने की नीति शिक्षार्थियों व अध्यापकों को हतोत्साहित करती है**— ''सरकारी विद्यालयों में आने वाले बच्चों की बहुत बड़ी संख्या को मिलने वाली सीमित पारिवारिक मदद और विद्यालय के साथ कम जुड़ाव की वजह से किसी को न रोकने की नीति ने शिक्षार्थियों व अध्यापकों को मिलने वाली प्रोत्साहनपरक चुनौती को और भी खराब किया है। चूँकि चारों तरफ़ यह संदेश फैल गया है कि 'प्रदर्शन कोई मायने नहीं रखता', इसने बेहतरीन प्रदर्शन करने पर बुरा असर डाला है।''
3. **किसी को न रोकने की नीति ने अध्यापक की जवाबदेही को कम किया है** —''तनख्वाहों में काफ़ी बढ़ोतरी के बावजूद पूरे देश के सरकारी विद्यालयों में अध्यापकों को शिक्षार्थियों के प्रदर्शन के लिए जवाबदेह नहीं ठहराया जाता। किसी को न रोकने की नीति ने खासतौर पर प्राथमिक व उच्च प्राथमिक स्तरीय अध्यापकों के बीच जवाबदेही को कम किया है।''
4. **किसी को न रोकने की नीति ने बहुस्तरीय कक्षाओं को बढ़ा दिया है** —"किसी को न रोकने की नीति ने कक्षाओं में बहुस्तरीय माहौल

को बढ़ा दिया है। मौजूदा शिक्षणशास्त्रीय संचालन अभ्यास, अध्यापक-शिक्षा की विषय-वस्तु तथा अध्यापक के कौशलों का समूह, शिक्षार्थी-अध्यापक अनुपात, सीखने-सिखाने की सामग्री और ढाँचागत सुविधाएँ ऐसे माहौल द्वारा पेश की जाने वाली चुनौतियों का सामना पर्याप्त तरीके से नहीं कर पातीं।"

5. **किसी को न रोकने की नीति ने अध्यापकों का बोझा बढ़ा दिया है** — "किसी को न रोकने की नीति व सी.सी.ई. की वजह से अध्यापकों के सामने कक्षा में चुनौतियाँ बढ़ गई हैं। पहले ही सरकारी विद्यालयों के अध्यापक वंचित सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि वाले बच्चों के सीखने को सुनिश्चित करने के चुनौतीपूर्ण काम का सामना कर रहे हैं, जो कि पहली पीढ़ी के सीखने वाले हैं। किसी को न रोकने की नीति हर कक्षा में ऐसे बच्चों की संख्या बढ़ा देती है, भले ही वे उस अनुपात में न सीख रहे हों और इस वजह से अध्यापक के काम को और पेचीदा बना देती है।''

6. **किसी को न रोकने की नीति को अमल में लाने से पहले व्यवस्थागत मदद को सुनिश्चित करना** — "किसी को न रोकने की नीति को हरेक स्तर पर एक आदर्श-उपयुक्त संसाधनों (अध्यापकों की पर्याप्त संख्या), सुगम प्रक्रियाएँ (सी.सी.ई.) और एक मददगार पर्यावरण (जुड़ाव रखने वाले अभिभावक व समुदाय जो बच्चों की विद्यालय में पूरी हाज़िरी पक्की कर सकें और बच्चों को अकादमिक बेहतरी हासिल करने में मदद कर सकें व प्रोत्साहन दे सकें) की मौजूदगी में लागू की जा सकती हैं।"

चलिए, अब ज़रा समिति द्वारा किए गए दावों को समझते हैं और उनसे निकलने वाले नतीजों की जाँच करते हैं। अगर किसी को न रोकने की नीति को 'कोई आकलन नहीं' के तौर पर समझा गया है तो यह तो साफ़ तौर पर गलतफ़हमी है जिसे दुरुस्त किया जाना चाहिए। इस प्रावधान के पीछे का मकसद उन शिक्षार्थियों के दिमाग से नाकाम होने के डर को बाहर निकाल फेंकना था, जिनके नाकाम हो जाने और शिक्षा प्रणाली को छोड़ दिए जाने की संभावनाएँ सबसे ज़्यादा थीं। यह अगली कक्षा में बढ़ाए जाने को शिक्षार्थियों के नतीजों से अलग करके किया गया। अगर ऐसा महसूस किया जा रहा है कि परीक्षा में कामयाब होना व अगली कक्षा में चढ़ाए जाने के बीच संबंध तोड़ने से अध्यापक व शिक्षार्थी दोनों ही सीखने के प्रति छुईमुई वाला नज़रिया अपना लेते हैं, तब तो हम किस तरह के सीखने को बढ़ावा देना चाहते हैं और किसी के विद्यालय में आने के कारण हम क्या मानते हैं, इन दोनों ही बातों में साफ़-साफ़ समस्या नज़र आती है। इसके अलावा, यह प्रावधान सीखने और आकलन की अहमियत को कम नहीं करता है, यह तो सिर्फ़ विद्यालय से निकाल दिए जाने वाले संभावित बच्चे विद्यालय में जितनी देर रुक सकते थे, उन्हें उससे थोड़ी और देर तक रुकने का मौका देता है। शिक्षार्थी की गरिमा की इज़्ज़त करते हुए यह प्रावधान नाकाम होने पर उस पर जुर्माना नहीं लगाता। हालाँकि, किसी को न रोकने के हालातों में

सीखने में अवधारणात्मक समझ में दरारें बढ़ते जाने की संभावना और उन्हें भरने की कोशिशों की ज़्यादा व तुरंत ज़रूरत होने तथा उसकी जवाबदेही से इंकार नहीं किया जा सकता।

दूसरी तरफ़, एक दावा यह किया गया है कि सरकारी विद्यालय मोटे तौर पर ऐसे बच्चों को अपने दायरे में समेटते हैं जिनके अभिभावक 'किसी भी खास दिन छोटी-सी वजह पर भी बच्चों को विद्यालय से बुला लेते हैं' और जहाँ पर बच्चों के पास 'अपने गृहकार्य में मार्गदर्शन के लिए या पढ़ने के लिए वक्त बहुत ही कम उपलब्ध होता है।' दूसरी तरफ़ समिति कहती है कि किसी को न रोकने की नीति उनके विद्यालय में आने व प्रोत्साहन पर नकारात्मक असर डाल रही है। यह कल्पना करना मुश्किल है कि किसी को न रोकने वाली नीति कैसे इन बच्चों को प्रोत्साहित कर पाएगी कि वे अच्छा प्रदर्शन कर सकें, अगर वे विद्यालय में अनियमित हैं और उनको घर पर अभिभावक की मदद मिलने में भी बाधाएँ मौजूद हैं। इससे उलट किसी को न रोकने की नीति विद्यालय को उन सभी बच्चों के लिए कम तनावपूर्ण बनाती है, जिनके नाकाम होने व कभी न लौटने के लिए निकाले जाने की संभावनाएँ ज़्यादा होती हैं।

अध्यापकों को संभवतः बच्चों के सीखने के लिए जवाबदेह ठहराने की ज़रूरत के साथ इस बात को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि अध्यापकों की जवाबदेही और बच्चों के सीखने में कोई सीधा-सादा एकरेखीय संबंध नहीं होता है। अध्यापकों को अपना ज़्यादातर समय बच्चों के साथ कक्षा में गुज़ारने में मदद करनी चाहिए बजाय इसके कि उनके कंधों पर कक्षा से बाहर और यहाँ तक कि विद्यालय से बाहर के भी तथा विद्यालय से असंबंधित प्रशासनिक ज़िम्मेदारी वाले कामों का बोझ डाल दिया जाए। जहाँ अध्यापकों की तनख्वाहें या सेवाशर्तें सीधे-सीधे शिक्षार्थियों के प्रदर्शन के साथ जोड़ दी जाती हैं, वहाँ अविश्वास के हालातों में अध्यापकों द्वारा अनैतिक व गलत तौर-तरीकों को इस्तेमाल करने की तरफ़ कदम बढ़ाने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। शिक्षा अधिकारियों और कभी मंत्रियों द्वारा मनमाने तरीके से किए जाने वाले दौरे और उनमें बच्चों द्वारा उनके सवालों के उपयुक्त जवाब न दिए जाने के मामलों में अध्यापकों की बर्खास्तगी या निलंबन, अध्यापकों के बीच आतंक के माहौल को और बढ़ा देता है।

बहुकक्षा शिक्षण का माहौल सिर्फ़ किसी को न रोकने की नीति की वजह से पैदा नहीं हुआ, बल्कि अध्यापकों की कमी, विद्यालय में शिक्षार्थियों की अपर्याप्त संख्या व बच्चों की अलग-अलग ज़रूरतें तथा उनके लिए घर व विद्यालय में उपलब्ध मदद इत्यादि की वजह से है। किसी को न रोकने की नीति अपने आप में सीखने में कमज़ोर रह जाने को बढ़ावा नहीं देती, बल्कि यह तो नाकाम होने और बच्चों को विद्यालय से बाहर निकाल दिए जाने से लगातार अटकाती है। मामला कोई भी हो, यहाँ तक कि 'नाकाम' रह जाने वाले बच्चों को अटका कर पीछे की कक्षा में धकेल दिया जाता है तो हतोत्साहित होने के अलावा भी वे उसी कक्षा में लगातार संघर्ष करते रहेंगे, जब तक कि उन्हें अच्छी खासी उनकी खुद की ज़रूरतों के मुताबिक मदद मुहैया नहीं करवाई जाती।

आखिरी बिंदु पहले मुर्गी या अंडा वाले सवाल जैसा है। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि सार्थक बदलावों को अलग-थलग करके नहीं देखा जा सकता और कुछ प्रक्रियाएँ अपनी जगह पर कामकाजी हालात में होनी चाहिए। लेकिन इसका यह तो मतलब नहीं होता कि जब तक शिक्षा प्रणाली का रेशा-रेशा दुरुस्त नहीं कर दिया जाता, तब तक किसी भी बदलाव को टाल या अटका दिया जाए? हकीकत में आर.टी.ई. कुछ दूसरे अधिकार-आधारित प्रावधानों की ज़रूरत के बारे में बार-बार दोहराता है, जिनको एक साथ किए जाने की ज़रूरत है, जैसे— विद्यालय में ढाँचागत सुविधाएँ, अध्यापकों के लिए न्यूनतम योग्यता, उपयुक्त शिक्षार्थी-अध्यापक अनुपात, अध्यापकों के लिए गैर-अध्यापकीय गतिविधियों पर रोक, बच्चों के लिए दोस्ताना पाठ्यचर्या, सी.सी.ई. और अध्यापक शिक्षा आदि।

रोचक बात यह है कि रिपोर्ट इस बात का भी ज़िक्र करती है कि इस बात का कोई शोध-आधारित सबूत नहीं है कि रोकना सीखने में मदद करता है और ऐसे कुछ शोध अध्ययनों की तरफ़ इशारा करती है (ब्रिमर और पॉली 1971 एजुकेशन फ़ॉर ऑल स्टेट्स एंड ट्रेंड्स; 1998 हैमंड व अन्य 1994) जो यह दर्शाते हैं कि हकीकत में बच्चों को कक्षा में रोकना, उनके सीखने व विद्यालय में टिके रहने, दोनों पर नकारात्मक असर डालता है। इसके बावजूद, यह रिपोर्ट और इसकी सिफ़ारिशें बच्चों को न रोके जाने के खिलाफ़ नज़रिया अपनाती है और इस प्रावधान को अलग-अगल कदमों में लागू करने की सिफ़ारिश करती है। यह सिफ़ारिश करती है कि राज्यवार आकलन कक्षा 3, 5 व 8 में किए जाएँ और न रोकने की नीति कक्षा 5 तक लागू की जाए। कक्षा 5 के बाद अस्थायी तौर पर आगे बढ़ाया जाए और कक्षा 8 के बाद रोक दिया जाए। कुछ दूसरी सिफ़ारिशें इस तरह हैं — नियमित अंतराल पर सीखने के स्तर के नतीजों को मापा जाए, प्रदर्शन से प्रोत्साहन वाली संस्कृति को बढ़ावा दिया जाए, ऐसे शिक्षणशास्त्रीय कार्यक्रमों को बढ़ावा दिया जाए जो किसी को न रोकने की नीति को सहारा देते हों और दावेदारों की दिमागी बुनावट को बदलने और उन्हें नए प्रावधानों के लिए तैयार करें।

यह रिपोर्ट सीखने, अध्यापकों की भूमिका और शिक्षार्थियों की प्रेरणा के लिहाज़ से तीन केंद्रीय मान्यताएँ रखती है —

1. बगैर आकलन के सीखना हो ही नहीं सकता।
2. सीखने की प्रेरणा (बच्चे के मामले में) मोटे तौर पर बाहरी कारकों से संचालित होती है।
3. सरकारी अध्यापकों को जब तक शिक्षार्थियों के सीखने के प्रति जवाबदेह नहीं बनाया जाए तब तक वे उसकी कोई परवाह नहीं करते।

समेकन

जब तक कि कोई दीर्घकालीन शोध अध्ययन उन्हें साबित नहीं करता, तब तक इस विश्लेषण में जिन मान्यताओं की झलक मिलती है, उनकी वैधता पर भरोसा करने की बुनियाद बहुत ही भुरभुरी है। रिपोर्ट का लहजा कुछ इस तरह का है कि इसमें बगैर सोचे-समझे न सीख पाने का इल्ज़ाम या तो सरकारी विद्यालयों में पढ़ने वाले शिक्षार्थियों की पृष्ठभूमि पर लगा दिया गया है या फिर जवाबदेही में कमी

के नाम पर अध्यापकों के ज़िम्मे मढ़ दिया गया है। समिति अपने विश्लेषण में बहस को दो खेमों में बाँट देती है — अकादमिकों (जो सुधार समर्थक हैं) और अभ्यासकर्ता (जो इसे लागू करने में पेश आने वाली चुनौतियों की तरफ़ हमारा ध्यान खींचते हैं)। ज़्यादा अहम बात यह है कि दोनों समूहों के दावों को खारिज करने के बजाय ऐसी नीतियों को बनाया जाए जो अकादमिकों के नज़रिये और ज़मीनी स्तर पर काम करने वाले अभ्यासकर्ताओं को मिलने वाली चुनौतियों, दोनों ही से मिलने वाली जानकारी व समझ पर आधारित हो।

ज़मीनी और सख्त चुनौतियों का सामना करने के बावजूद सी.सी.ई. और किसी को न रोकने की नीति की बुनियाद मज़बूत सिद्धांतों पर टिकी है, उसे हड़बड़ी में खारिज कर देने के बजाय उन्हें पहचानने व सहारा देने की ज़रूरत है। जब विद्यालय ही सवालों के घेरे में हो, तब बच्चे को नियमित तौर पर वहाँ हाज़िर न होने के लिए ज़िम्मेदार ठहराना, उसे किसी भी तरह से वहाँ आने के लिए प्रेरित नहीं करता। जब व्यवस्था ही वह सब कुछ न दे पा रही हो जिसके लिए उसे बनाया गया है, तब यह मुमकिन है कि 'काफ़ी सारी चीज़ें न जानने के लिए उसी कक्षा में रोक देना' बीमारी का उपयुक्त इलाज नहीं है। अकेले बच्चे या अध्यापक पर इल्ज़ाम लगाकर हम ढाँचागत बीमारियों का वैयक्तिकरण कर रहे हैं और पूरी ज़िम्मेदारी उनके प्रदर्शन पर डाल रहे हैं। ज़्यादा ज़रूरी यह है कि हम ऐसी व्यवस्थाएँ बनाएँ जो अध्यापकों को सिखाने व शिक्षार्थियों को सीखने में मदद करें न कि ऐसी व्यवस्था बनाने में, जो कि अनुशासनात्मक कार्रवाई के डर पर आधारित हों। इस बात के अलावा भी ऐसा कोई शोध मौजूद नहीं है जो यह दर्शाता हो कि रोककर रखने से सीखना बेहतर हो जाता हो या कोई ऐसा तुलनात्मक अध्ययन भी मौजूद नहीं है जो न रोकने से पहले और रोकने के बाद शैक्षिक उपलब्धि के स्तरों में पाए जाने वाले फ़र्क को बताता हो और फिर तीन साल वैसे भी किसी नीति को लागू करके उसके नतीजे के बारे में निर्णय लेने के लिहाज़ से काफ़ी कम होते हैं।

उपरोक्त प्रावधानों की रोशनी में शायद इस बात की समीक्षा करना ज़रूरी हो जाता है कि समाज और विद्यालय शिक्षार्थियों से सीखने के बारे किस तरह की उम्मीदें रखते हैं। जब 'प्रासंगिक' और 'ज़रूरत आधारित पाठ्यचर्या' अकसर पाठ्यचर्या को कमज़ोर करने तक ही सीमित रह जाती हो, तब यह पहचानना ज़रूरी हो जाता है कि बच्चों की अलग-अलग विषयों में अलग-अलग हद तक रुचि हो सकती है और वे किसी खास विषय की पाठ्यचर्या में कम चुनौतीपूर्ण तो किसी दूसरे विषय में उन्नत पाठ्यचर्या का चुनाव कर सकते हैं। इससे न तो उन पर कमज़ोर की चिप्पियाँ लगानी चाहिए और न ही सभी बच्चों से सभी विषयों में एक समान पाठ्यचर्या का अध्ययन करने के लिए एक समान माँग करनी चाहिए और न ही उन पर सभी में कामयाब होने या अच्छा प्रदर्शन करने का दबाव डालना चाहिए। जब यह ज़रूरी है कि कोई भी सीखने के बारे में दोबारा कल्पना कर पाए, बच्चों पर केंद्रित संसाधनों को विकसित कर पाए और आकलन और उसके नतीजों को अवधारणात्मक स्तर पर समझ पाए, तब यह

भी उतना ही ज़रूरी है कि बच्चों को अपनी बहुत शुरुआती ज़िंदगी से ही चुनने में लचीलापन मिल पाए। यह भी मुमकिन है कि इस किस्म का सीखना नाकाम होने या कमज़ोर प्रदर्शन के डर से नहीं किया जा सकता, लेकिन यह अंदरूनी प्रेरणा से हो सकता है। शायद यह अध्यापक के काम को कम तनावपूर्ण बनाए। आर.टी.ई. के ऐसे ही दूसरे प्रावधानों की ही तरह, यह भी ऐसे बच्चों तक पहुँच पाए, जो ज़रूरी नहीं कि सभी विषयों में एक समान पाठ्यचर्यात्मक माँगों को पूरा कर पाने के लिहाज़ से उतने काबिल हों और सीखने को ज़्यादा सार्थक और कम डरावना या तनावपूर्ण बनाए। कहने की ज़रूरत नहीं कि आगे राह में रोड़े बहुत होंगे, लेकिन संभावित चुनौतियों से घबरा कर या मोहभंग में पड़ने के बजाय ऐसे विचारों को काम में लेकर देखना उपयोगी होगा जो वैयक्तिकता और बच्चे की गरिमा की इज़्ज़त करें और विद्यालय में हाज़िरी, ठहराव और सबसे महत्वपूर्ण सीखने को बढ़ाए।

भाषान्तर — रवि कांत

(यह लेख '*इकोनॉमिक एंड पोलिटिकल वीकली*' के जनवरी, 2015 से साभार लिया गया है।)

नोट्स

1. मैं सतत एवं समग्र मूल्यांकन से जुड़े अध्ययनों के दौरान महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और राजस्थान में अभिभावकों के साथ बातचीत में शामिल रही थी।
2. नि:शुल्क एवं अनिवार्य बाल शिक्षा का अधिकार कानून—2009 को अमल में लाने के अलावा कक्षा 10वीं की बोर्ड परीक्षाओं को ऐच्छिक बनाना और उसकी जगह सी.सी.ई. को लाना पिछली संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन की सरकार के अहम बदलावों में से एक थे।
3. इस मानदंड ने विमानभेदी तोपखाने का दर्जा हासिल किया और हाल ही में कुछ राष्ट्रीय समाचार-पत्रों ने यह खबर दी कि केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के कुछ सर्वोच्च शिक्षार्थियों ने मानव संसाधन विकास मंत्रालय के साथ बैठक करके अपनी पीड़ा ज़ाहिर की और उससे अर्ज़ किया कि बोर्ड परीक्षाओं को दोबारा शुरू किया जाए, क्योंकि सी.सी.ई. उन्हें कक्षा 12 की बोर्ड परीक्षाओं और इज़्ज़तदार इंजीनियरिंग व डॉक्टरी की परीक्षाओं के लिए ठीक ढंग से तैयारी नहीं करवाता।
4. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मैं सी.सी.ई. पर अभी कुछ समय से और अपने काम के दौरान शोध कर रही हूँ, जिसमें सरकारी व निजी विद्यालयों में काम करने वाले अध्यापकों और उनमें पढ़ने वाले शिक्षार्थियों के साथ विस्तार से बातचीत की गई। उस बातचीत से बनी समझ का इस हिस्से में इस्तेमाल किया गया है।
5. केंद्रीय सलाहकार शिक्षा बोर्ड (केब) देश में शिक्षा संबंधी निर्णयों को लेने वाली सबसे बड़ी आधिकारिक संस्था है।
6. समिति के दो सदस्यों ने समिति की सिफ़ारिशों के साथ अपनी असहमति ज़ाहिर की।